शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

जनवरी : १९५९ ☆ वर्ष चौदहवाँ, पौष वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : ९

क्या करना ?

जिसे आत्महित साधना हो, जन्म-मरण के दु:खों से आत्मा को छुड़ाना हो, उस जीव को क्या करना चाहिये ? आचार्यभगवान कहते हैं कि प्रथम तो उस जीव को आगमप्रमाण से, अनुमानप्रमाण से और अंतर के स्वसंवेदनप्रमाण से ऐसा जानना चाहिये कि मैं ज्ञान-चेतनास्वरूप हूँ; कर्मचेतना या कर्मफलचेतना (राग-द्वेष या हर्ष-शोक) मेरा यथार्थ स्वरूप नहीं है। — इसप्रकार अपने को ज्ञानचेतनास्वरूप जानकर और उसकी दृढ़ श्रद्धा करके फिर उसी के ध्यान द्वारा उसमें लीन होना चाहिये। — ऐसा करने से आत्मा को परम आनन्द का अनुभव होता है और जन्म-मरण के दु:खों से छूटकर वह मोक्ष-सुख प्राप्त करता है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१६५]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सूचना

परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ता० १५-५-५९ को सोनगढ़ से प्रस्थान करके पावागढ़ यात्रा करते हुए सूरत होकर मुंबई पधारेंगे। और मुंबई के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव तथा दक्षिण के तीर्थधामों की यात्रा करते हुए वैशाख सुदी ११ के लगभग पुनः सोनगढ़ पधारेंगे। इस समय के बीच में सोनगढ़ में पुस्तक विक्रय विभाग तथा जैन-अतिथि सेवा समिति का भोजन-गृह बंद रहेगा। परन्तु आफिस का कामकाज चालू रहेगा। इसलिये पत्र व्यवहार तथा आत्मधर्म की वार्षिक फीस आदि भेजने के लिये निम्न पते से पत्र व्यवहार करें।

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा

अंकलेश्वर के भाई श्री शांतिलाल नाथूभाई चौकसी (उम्र ४२ वर्ष) ने कार्तिक वदी ४ के दिन पूज्य गुरुदेव के समीप आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की है, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद है।

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

जनवरी : १९५९ ☆ वर्ष चौदहवाँ, पौष वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : ९

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[४०]

क्रियाशक्ति

स्वभाव के अवलम्बन से स्वयं छह कारकरूप होकर अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावों को करे–ऐसी क्रियाशक्ति आत्मा में है। अपने निर्मलभावरूप क्रिया करने के लिये उसे किन्हीं बाह्य कारकों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। अहो! परमात्मा होने की शक्ति स्वयं अपने में ही भरी होने पर भी जीव अपनी प्रभुता के निधान को नहीं देखते और बाह्य में भटकते हैं, इसलिये संसार में परिभ्रमण करते हैं। यहाँ आचार्यदेव आत्मा की शक्तियों का वर्णन करके उसकी प्रभुता बतलाते हैं कि—देखो रे देखो! चैतन्य के निधान देखो! अरे जीवों! तुम्हारे अंतर के ऐसे निधान बतलाता हूँ कि जिन्हें देखते ही अनादिकालीन दीनता दूर हो जाये और आत्मा में अपूर्व आह्लाद जागृत हो... जिसके सन्मुख दृष्टि करते ही प्रदेश-प्रदेश में रोमांच हो जाये कि—'अहो! ऐसी मेरी प्रभुता!!'—ऐसी अचिंत्य प्रभुता आत्मा में विद्यमान है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। प्रत्येक आत्मा में यह शक्तियाँ त्रिकाल स्वयंसिद्ध है; इन शक्तियों को कहीं नया उत्पन्न नहीं करना पड़ता; किन्तु उन्हें पहिचान कर पर्याय में प्रगट करना होता है। अपने आत्मा की अनंत शक्तियों को पहिचानने से पर्याय में उनका

व्यक्त वेदन होता है, उसका नाम धर्म है।

'कारकों के अनुसार होनेरूप जो भाव, उसमयी क्रियाशक्ति आत्मा में है।' ३९वीं शक्ति में भेदरूप कारकों के अनुसार होनेवाली विकारी क्रिया से रहितपना बतलाया और इस शक्ति में अभेदरूप शुद्ध कारकों के अनुसार होनेवाली निर्मल क्रिया सहितपना बतलाते हैं। अपने स्वभाव का ही अनुसरण करके निर्मल भावरूप हो—ऐसी क्रियाशक्ति आत्मा में है, किन्तु आत्मा पर की क्रिया करे या पर का अनुसरण करके क्रिया करे—ऐसी उनकी क्रियाशक्ति नहीं है। अपने स्वभाव का ही अवलम्बन रखकर एक अवस्था में से दूसरी निर्मल अवस्थारूप परिणमित हो—ऐसी क्रियाशक्तिवाला आत्मा है। किन्तु आत्मा पलटकर परभावरूप हो जाये—ऐसी उसकी शक्ति नहीं है।

प्रश्न : पर्याय में विकारी भावरूप भी आत्मा परिणमित तो होता है ?

उत्तर : यह आत्मा की शक्ति का वर्णन है; शक्ति अर्थात् आत्मा का वैभव; उसमें विकार की बात क्यों आयेगी ? विकार तो दीनता है; आत्मा के वैभव में उस दीनता का अभाव है। शक्तिसन्मुख देखनेवाले को अपनी परिपूर्णता ही भासित होती है और परिपूर्णतारूप आत्म-वैभव के आधार से पर्याय में से विकाररूपी दीनता छूट जाती है। पर्याय में विकार होने पर भी, वह शक्ति के आधार से नहीं हुआ है, तथा आत्मा की शक्तियों में भी ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह विकार की कर्ता हो। शुद्धभाव से छह कारकरूप होकर स्वयं परिणमित हो—ऐसी आत्मा की क्रियाशक्ति है। आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होकर केवलज्ञानादिरूप परिणमित होने के स्वभाववाला है—इस संबंध में पहले (३९वीं शक्ति के वर्णन में, प्रवचनसारादि का आधार देकर) बहुत कहा जा चुका है।

प्रथम तो आत्मा का स्वभाव क्या है—उसका सत्समागम से बारम्बार श्रवण करके, उसका उल्लास लाकर, उसका ग्रहण और धारण करके दृढ़ निर्णय करना चाहिये। यथार्थ निर्णय किये बिना प्रयत्न का बल अन्तरोन्मुख नहीं होता। आत्मा के स्वभाव का निर्णय करके उसमें अन्तर्मुख होने से सम्यक्दर्शनादि निर्मल भाव प्रगट होते हैं। ऐसे निर्मल भावों को स्वयं छह कारकरूप होकर करे—ऐसी आत्मा की क्रियाशक्ति है। आत्मा को अपने निर्मलभावरूप क्रिया करने के लिये किन्हीं बाह्य कारकों का आश्रय नहीं लेना पड़ता; तथा आत्मा कारक होकर जड़ की या राग की क्रिया करे—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। अपने ही कारकों का अनुसरण करके अपने वीतरागभावरूप

परिणमित होने की ही क्रिया करे—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। देखो, इसमें अकेली स्वभावदृष्टि ही होती है और बाह्य में किसी के आश्रय से लाभ होता है—व्यवहार के आश्रय से लाभ होता है—इस दृष्टि का भुक्का उड़ जाता है। अपने स्वभाव के आश्रय से ही अपनी परमात्मदशा प्रगट होती है; आत्मा को अपनी परमात्मदशा प्रगट करने के लिये किसी अन्य का आश्रय लेना पड़े अथवा अन्य कोई उसे मदद करे—ऐसा है ही नहीं।

अभी तक अनंत जीव परमात्मा ही गये हैं; जो परमात्मा हुए हैं, वे सभी अपने स्वभाव के कारकों के अनुसार परिणमित होकर ही परमात्मा हुए हैं; आत्मा के अतिरिक्त बाह्य पदार्थों को कर्ता बनाये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं; बाह्य पदार्थों को साधन बनाये बिना ही वे परमात्मा हुये हैं; बाह्य पदार्थों को सम्प्रदान या अपादान बनाये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं; बाह्य पदार्थों का आधार लिये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं और बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध बिना ही वे परमात्मा हुए हैं। अल्पज्ञता का नाश करके परमात्मदशारूप परिणमित होनेरूप जो क्रिया हुई, उसके स्वयं ही कर्ता हैं, अपना आत्मा ही उसका साधन है, अपना आत्मा ही उसका सम्प्रदान और अपादान है; अपना अत्मा ही उस परमात्मदशा का आधार है और अपने स्वभाव के साथ ही उसका सम्बन्ध है।—इसप्रकार बाह्य छह कारकों के बिना अपने ही कारकों के अनुसार शुद्धभावरूप से स्वतः परिणमित होने की क्रिया करे—ऐसा आत्मा का स्वभाव है।

अहो! परमात्मा होने की शक्ति स्वयं अपने में ही भरी होने पर भी, जीव अपनी प्रभुता के निधान को नहीं देखते और बाह्य में भटकते हैं; इसलिये संसार में परिभ्रमण करते हैं। यहाँ आचार्यदेव आत्मा की शक्तियों का वर्णन करके उसकी प्रभुता बतलाते हैं। देखो रे देखो! चैतन्य के निधान देखो! अरे जीवों! तुम्हारे अंतर के ऐसे चैतन्य निधान बतलाऊँ कि जिन्हें देखते ही अनादिकालीन दीनता दूर हो जाये और आत्मा में अपूर्व आह्लाद जागृत हो... जिसके सन्मुख दृष्टि करते ही प्रदेश-प्रदेश में रोमांच हो जाये कि—'अहो! ऐसी मेरी प्रभुता!!'—ऐसी अचिंत्य प्रभुता आत्मा में विद्यमान है।

भाई! तेरे आत्मा में ऐसी प्रभुता है कि जगत में अन्य किसी की भी सहायता के बिना स्वतः अकेला ही अपने में से अनंत ज्ञान और आनन्द प्रगट करके तू स्वयं परमात्मा हो जा—ऐसी तेरी शक्ति है। एकबार तो अंतर में दृष्टि करके अपनी प्रभुता को देख! दृष्टि करते ही निहाल कर दे—ऐसा तेरा स्वभाव है। तू अपने स्वभाव की प्रभुता का विश्वास रखकर उसके आधार से

शुद्धभावरूप परिणमित होने की क्रिया कर और दूसरा कोई साधन होकर तुझे परिणमित कर देगा—ऐसी व्यर्थ की आशा छोड़ दे। अरे, अपनी ही अपने को खबर न हो तो फिर सुखी कैसे होगा? अपने को ही भूलकर बाह्य में भटकता फिरे तो उसे सुख कहाँ से मिलेगा? इसलिये अंतर में मेरा आत्मा क्या वस्तु है कि जिसमें मेरा सुख भरा है!—इसप्रकार अंतर्शोध करके आत्मा का पता लगाना चाहिये। आत्मा की सत्ता के अतिरिक्त अन्यत्र तो कहीं सुख का अस्तित्व है ही नहीं।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा चौथे गुणस्थान में असंयमी हो, गृहस्थदशा-में व्यापार-धंधा-घरबार वर्तते हों, तथापि उसके अंतर में सदैव आत्मा के वैभव का भान वर्तता है। अरे! आठ वर्ष की बालिका को या मेंढक को आत्मा को भी ऐसे आत्मा का भान हो सकता है। यह शरीर तो ऊपर का खोल है, वह कहीं आत्मा नहीं है; आत्मा तो अंतर में पृथक् है। जब वह जागकर अपने स्वरूप का भान करे, तब कर सकता है। यह ४७ शक्तियाँ आदि शब्द बोलना उसे भले न आये किन्तु इन शक्तियों के वाच्यरूप भाव आत्मा में हैं, वे उसके संवेदन में आ जाते हैं; आत्मा की सम्पूर्ण प्रभुता उसकी प्रतीति में आ जाती है; स्वत: छह कारकरूप होकर निर्मल भावरूप से परिणमित होने की क्रिया उसके आत्मा में हो जाती है। अंतर्मुख होकर ऐसी क्रिया करने में ही कल्याण है, अन्य किसी प्रकार से कल्याण नहीं है। 'अरे! मेंढ़क और आठ वर्ष की बालिका के आत्मा भी ऐसा आत्मभान करते हैं तो मुझसे क्यों नहीं होगा? मुझमें भी ऐसी प्रभुता है और मैं भी उसका भान कर सकता हूँ'—इसप्रकार आत्मा में उल्लास लाकर-आत्मा का विश्वास लाकर प्रयत्न करना चाहिये; जो ऐसा प्रयत्न करेगा, उसे आत्मा के आनन्द का अपूर्व अनुभव होगा ही।

देखो भाई! यह कोई साधारण बात नहीं है; और न साधारण पुरुष की कही हुई है; यह तो परमात्मपद की साधना करनेवाले वीतरागी संतों ने आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते आत्मा की अचिन्त्य शक्तियों का अद्‌भुत वर्णन किया है। अंतर के अनुभव की यह वस्तु है। वीतरागी संतों ने आत्महित के लिये यह जो मार्ग बतलाया है, वही परम सत्य है; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो वह जीव वीतरागी संतों को या उनके कहे हुए वीतरागी शास्त्रों को नहीं मानता; भगवान को या भगवान के कहे हुए मार्ग को नहीं जानता; आत्मा के वीतरागी ज्ञानस्वभाव की उसे खबर नहीं है। प्रत्येक आत्मा में विद्यमान अनंत शक्तियों का ऐसा वर्णन सर्वज्ञ के वीतराग शासन के अतिरिक्त अन्य कहाँ है? अनेकान्त उस सर्वज्ञ भगवान के शासन का अमोघ लांछन है; उस अनेकान्त के द्वारा ही आत्मा का सच्चा स्वरूप ज्ञात होता है। प्रत्येक शक्ति के वर्णन में महान रहस्य आ जाता है। एक

भी शक्ति को यथार्थ पहिचान ले तो उसमें शक्तिमान ऐसे द्रव्य को मान लिया; द्रव्य के गुणों को मान लिया, उसकी पर्याय को मान लिया, विकार को मान लिया, परिणमन मान लिया, विकार रहित होने के स्वभाव को मान लिया, प्रत्येक आत्मा की पृथक्ता को मान लिया; परवस्तुएँ भी हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा उनका अकर्ता है,—यह सब रहस्य इसमें समा जाता है। अनेकान्त के बिना एक भी वस्तु का सच्चा ज्ञान नहीं होता। अनेकान्त शासन अर्थात् सर्वज्ञ का शासन-जैन-शासन-वस्तुस्वभाव का शासन,—उसके सिवा अन्यत्र कहीं यह बात नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की ४१५ गाथाओं में तो आत्मस्वभाव का वैभव भर दिया है और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उसका दोहन करके उसके रहस्य खोले हैं, वे स्वयं कुन्दकुन्द प्रभु के गणधर समान हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तीर्थंकर जैसे कार्य किये हैं और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने गणधर जैसे। अहो! इस काल उन संतों का महान उपकार है। संतों ने ढिंढोरा पीटकर जगत के समक्ष वस्तुस्वरूप की घोषणा की है।

शुद्ध छह कारकरूप होने का आत्मा का स्वभाव है, उसके आधार से अपने अनंत गुणों की निर्मल परिणतिरूप परिणमित होने की क्रिया करे—ऐसी क्रियाशक्ति आत्मा में है। स्वसन्मुख निर्मल परिणमन में छहों कारक अभेद हैं। अभेद स्वभाव पर दृष्टि जाने से आत्मा स्वयं निर्मल पर्यायरूप से परिणमित हो जाता है, उसमें छहों कारक अपने ही हैं। कर्ता स्वयं, कर्म स्वयं, साधन स्वयं, सम्प्रदान स्वयं, अपादान स्वयं और अधिकरण भी स्वयं ही हैं; इसलिये हे जीव! अपने धर्म के लिये तू अपने में ही देख... बाह्य में कारणों को न ढूंढ़; क्योंकि तेरे धर्म के कारक बाह्य में नहीं हैं। अपने छह कारकों का अनुसरण करके परमात्मदशारूप परिणमित हो जाये—ऐसी प्रभुता तुझमें ही भरी है; अपनी प्रभुता को कहीं बाह्य में न ढूँढ़... अपनी प्रभुता के लिये बाह्य सामग्री को (-शरीर को, निमित्त को या रागादि को) ढूँढ़ने की व्यग्रता न कर। बाह्य सामग्री के बिना स्वयं अकेला अपने छह कारकोंरूप केवलज्ञानरूप से परिणमित हो जाये, ऐसा सवयंभू भगवान स्वयं ही है। अहो! ऐसी अपनी प्रभुता को छोड़कर पर को कौन ढूँढ़े? बाह्य में साधनों के लिये कौन भटके!!

ध्रुव उपादानरूप और क्षणिक उपादानरूप स्वभाववाला आत्मा स्वयं ही है। ध्रुव उपादान त्रिकाल शुद्ध है; उसके आधार से क्षणिक उपादान (-पर्याय) शुद्ध हो जाता है। उस समय दूसरे योग्य निमित्त भले हों, किंतु सचमुच वे कारक नहीं हैं; उन निमित्तों का अनुसरण करके आत्मा

शुद्धतारूप परिणमित नहीं होता, किंतु अपने स्वभाव अनुसरण करके ही वह शुद्धतारूप से परिणमित होता है—ऐसा भगवान आत्मा का स्वभाव है।

'भगवान' या 'प्रभु'—ऐसे शब्द आयें, वहाँ जीव की दृष्टि बाह्य में जाती है; किंतु भाई रे! जो भगवान हो गये, उनकी यह बात नहीं है; उन्हें कहीं यह बात नहीं समझाते; यह तो तेरे आत्मा की बात है। इस आत्मा को ही हम 'भगवान' कहते हैं और आत्मा को ही 'प्रभु' कहते हैं। जो भगवान और प्रभु हुए, वे कहाँ से हुए? आत्मा में शक्ति है, उसी में से हुए हैं और इस आत्मा में भी ऐसी शक्ति है; अंतर्दृष्टि के बल से उस शक्ति को खोलकर यह आत्मा भी भगवान और प्रभु हो सकता है; इसलिये प्रथम अपने स्वभाव की ऐसी शक्ति का विश्वास कर और उसकी महिमा ला। फिर उस स्वद्रव्य के आश्रय से एकाग्र होने पर, पर के कारकों की अपेक्षा बिना अपने ही कारकों से तेरा आत्मा प्रभुतारूप परिणमित हो जायेगा, तू स्वयं भगवान हो जायेगा। आत्मा अपनी प्रभुता दूसरे को नहीं देता और दूसरे की प्रभुता को अपने में स्वीकार नहीं करता तथा दूसरे के पास से अपनी प्रभुता नहीं लेता। हे जीव! तू अपनी ऐसी प्रभुता को धारण कर। 'प्रभुता प्रभु तेरी साँची...' शक्तिरूप से तो सभी आत्माओं में प्रभुता है किंतु उसका सम्यक्भान करके पर्याय में प्रभुता व्यक्त करे उसकी बलिहारी है। प्रभुता के भान के बिना तो उल्टा (पामरता दीनतारूप) परिणमन है।

'ऐसा राग हो तो मुझे लाभ हो और ऐसा निमित्त हो तो मुझे लाभ हो'—इसप्रकार राग के और निमित्त के निकट जाकर जो अपनी प्रभुता मानता है, वह दीन-भिखारी है, उसे प्रभुता कहाँ से मिलेगी? 'दीन भयो प्रभुपद जपै, मुकति कहाँ से होय?' प्रभुता की शक्ति तो स्वयं में भरी है, उसे पहिचानकर उसका भजन-सेवन करे तो प्रभुता प्राप्त हो। अरे जीव! तेरे स्वभाव में प्रभुता का कल्पवृक्ष लगा है, उसकी छाया में जाकर प्रभुता माँग तो तुझे अवश्य तेरी प्रभुता की प्राप्ति हो। जिस प्रकार हाथ में कोयला या पत्थर लेकर चिंतवन करे तो कुछ नहीं मिलता; किंतु चिन्तामणि लेकर चिंतवन करे तो बाह्य वैभव की प्राप्ति होती है; उसी प्रकार शरीर को या रागरूपी कोयले को लेकर चिंतवन करे तो उससे कहीं आत्मा की प्रभुता प्राप्त नहीं होती। किंतु आत्मा का स्वभाव स्वयं चैतन्य-चिन्तामणि है, उस चिन्तामणि का चिंतवन करे तो प्रभुता की प्राप्ति हो... अर्थात् मैं ही प्रभुता से परिपूर्ण चैतन्य चिन्तामणि हूँ—इसप्रकार अपने आत्मा का चिंतवन करने से आत्मा स्वयं प्रभु हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो अपनी प्रभुता दूसरे के पास से माँगे, वह तो दीन होकर चार गतियों में परिभ्रमण करता है; इसलिये आचार्यदेव आत्मा की प्रभुता बतलाते हैं कि अरे जीव! तेरी

प्रभुता के निधान तुझे बतला रहे हैं। उन्हें एक बार तो देख! अपने निधान को देख तो सही! अपने स्वभाव की प्रभुता को देखने का कुतूहल-रुचि-उमंग करे तो उसे प्रभुता मिले बिना न रहे। निरपेक्षरूप से अपने वीतरागी छह कारकोंरूप होकर प्रभुतारूप से परिणमित होने की क्रिया करे —ऐसी आत्मा की क्रियाशक्ति है। ऐसे निरपेक्ष स्वभाव का भान होने पर स्व-पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान विकसित हो जाता है और यथार्थ निमित्त कैसे होते हैं—ऐसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप सापेक्षता को भी वह ज्ञान यथार्थरूप से जानता है। निरपेक्षता को पहिचाने बिना अकेली सापेक्षता का ज्ञान सच्चा नहीं होता।

विकारदशा में भी आत्मा स्वयं ही अशुद्ध छह कारकोंरूप होकर परिणमित होता है, कोई अन्य उसे परिणमित करनेवाला नहीं है। परन्तु इन शक्तियों में तो आत्मा के शुद्ध स्वभाव का वर्णन है; इसलिये यहाँ अशुद्धता की बात नहीं आती। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण ३९वीं शक्ति में आ गया है। यहाँ तो आत्मा अपने स्वभाव का स्वसंवेदन करके शुद्धतारूप से परिणमित हो—ऐसी ही बात है।

प्रश्न:—अनेक लोग कहते हैं कि आत्मा अरूपी है, इसलिये वह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता?

उत्तर:—यह बात मिथ्या है। आत्मा अरूपी होने से वह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता यह सच है; परन्तु अतीन्द्रियज्ञान से तो आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। मति-श्रुतज्ञान भी जब अंतरोन्मुख होते हैं, तब उन्हें अतीन्द्रियपना है और उन मति-श्रुतज्ञान में भी आत्मा स्वसंवेदन -प्रत्यक्ष होता है। स्वयं को उसका अनुभव होता है। यदि स्वयं को अपने स्वसंवेदन का नि:शंक अनुभव न हो तो नि:शंकता के बिना साधक कैसे होगा? और वह आत्मा को साधेगा किस प्रकार? साधक जीव (चौथे गुणस्थानवर्ती अविरति सम्यग्दृष्टि भी) अपने ज्ञान को अंतरोन्मुख करके स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा को जान सकता है। ऐसा जो नहीं मानता, उसने आत्मा को जाना ही नहीं है। आत्मा में ही 'स्वयं प्रकाशमान विशद स्पष्ट स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति' है, इसलिये आत्मा स्वयं अपने ज्ञान से ही अपना स्पष्ट-प्रत्यक्ष स्वानुभव करे—ऐसा उसका स्वभाव है। (—इस 'प्रकाशशक्ति' के विशेष विवेचन के लिए देखो, आत्मधर्म अङ्क १०९-१०)

स्वयं अपने ही छह कारकों द्वारा, इन्द्रियादि कारकों की सहायता के बिना, ज्ञाता-सन्मुख होकर स्वयं अपना प्रत्यक्ष स्पष्ट स्वसंवेदन करे—ऐसा आत्मा का स्वभाव है, परोक्ष रहने का उसका

स्वभाव नहीं है; प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है। उस स्वभाव के लक्ष से स्वसंवेदन प्रत्यक्षता का परिणमन हो जाता है।

स्वभाव का सम्यक्-परिणमन कब होता है ?—कि जब उसमें पर्याय की एकता हो तब।

वह एकता कब होती है ?—कि जब उस स्वभाव पर दृष्टि पड़े तब।

शुद्ध स्वभाव में दृष्टि करे तो उसमें एकता हो और स्वभाव की शक्तियों का सम्यक् परिणमन हो। इसका नाम धर्म है और यही मोक्ष का मार्ग है।

अपने स्वभाव के कारकों का अनुसरण करके शुद्धभावरूप होने की क्रिया करे—ऐसी आत्मा की शक्ति है; इसलिये आत्मा के समस्त गुण भी इसी प्रकार अपने स्वभाव के कारकों के अनुसार निर्मलरूप से परिणमित हों—ऐसे स्वभाववाले हैं। किसी भी गुण का ऐसा स्वभाव नहीं है कि अपने निर्मल परिणमन के लिये पर के कारकों का अनुसरण करें; तथा पर का अनुसरण करके विकाररूप से या हीनरूप से परिणमित हो, वह भी गुण का सच्चा स्वरूप नहीं है; वह तो उपाधिभाव है; अखण्ड स्वभाव को ही कारक बनाकर परिणमित होने से वह उपाधिभाव छूट जाता है और शुद्धतारूप परिणमन हो जाता है; वही आत्मा की शुद्ध क्रिया है, वही धर्म क्रिया है, उसी क्रिया से मोक्ष होता है

देखो, यह कर्ता की क्रिया! कर्ता ऐसा आत्मा अपने ही छह कारकों द्वारा (अर्थात् स्वयं ही छह कारकोंरूप होकर) अपनी क्रिया करता है; कर्ता अपने से भिन्न अन्य किन्हीं कारकों द्वारा अपनी क्रिया नहीं करता। जैसे कि—

मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शनरूप से परिणमित होने की क्रिया अन्य कारकों का अनुसरण किये बिना स्वयं अपने चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके करता है। सम्यग्दर्शन में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आदि निमित्त होने पर भी, उन निमित्तों को अपने कारक बनाये बिना, अपने ही छह कारकों का अनुसरण करके आत्मा सम्यग्दर्शनरूप परिणमित होता है। इसप्रकार अपने कारकों द्वारा ही अपनी क्रिया करता है। इसप्रकार ज्ञान, चारित्र, आनन्दादि समस्त गुणों में निर्मल परिणमनरूप क्रिया आत्मा स्वयं स्वतः छह कारकरूप होकर करता है, ऐसी क्रियाशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

यह एक बात मुख्य समझने योग्य है कि शुद्धता के ही छह कारकरूप होने का आत्मा का स्वभाव है, किंतु अशुद्धता के कारकरूप होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो जीव मात्र

अशुद्धतारूप ही परिणमित होता है, उसने स्वयं छह कारकरूप होने के आत्मा के शुद्ध स्वभाव को नहीं जाना है, इसलिये वह अकेले पर को ही कारक मानकर उसके आश्रय से अशुद्धतारूप परिणमित होता है। यदि पर से निरपेक्ष स्वयं छह कारकरूप होने से आत्मा के स्वभाव को जाने तो उस स्वभाव के आश्रय से शुद्धतारूप परिणमन हुए बिना न रहे; इसप्रकार शुद्ध द्रव्यस्वभाव को स्वीकार करने से स्वसन्मुखता के बल अनुसार पर्याय में शुद्धता होने लगती है; अतः द्रव्यस्वभाव के साथ एकता करने से ही उस जैसी शुद्ध अवस्था हो जाती है, इसलिये वहाँ द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं रहता और अभेद में निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है। ऐसा आत्मस्वभाव की समझ का फल है।

जीव अपने स्वभाव को कारण न बनाकर पर को कारण बनाता है, वह संसार है; यदि स्वभाव को कारण बनाये तो शुद्धतारूप परिणमन हो और मोक्ष हो जाये। आत्मा का स्वभाव शुद्धता का ही कारण होने का है। इसलिये उसे कारणरूप से जो स्वीकार करे, उसकी शुद्धतारूप कार्य हुए बिना नहीं रहता। हे जीव! तेरी सिद्धि का साधन तेरे आत्मा में ही विद्यमान है, तेरी क्रियाशक्ति के कारण तेरा आत्मा अपने ही छह कारकों द्वारा एक अवस्था में से दूसरी अवस्थारूप परिणमित हो जाता है।—इसलिये पराश्रयबुद्धि छोड़ और ऐसे अपने स्वभाव का ही आश्रय करके निर्मलभावरूप से परिणमित होने की क्रिया कर।—ऐसा भगवान संतों के उपदेश का तात्पर्य है।

—यहाँ ४०वीं क्रियाशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

भरत-वैराग्य

वींछिया निवासी भाई श्री हिम्मतलाल वालजी भाई ने बाल-पद्मपुराण के आधार पर यह संवाद तैयार किया है। वींछिया पाठशाला के विद्यार्थियों ने कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन सोनगढ़ में यह संवाद प्रदर्शित किया था। जिज्ञासुओं को प्रिय होने से उसे यहाँ प्रकाशित किया है।

[श्री दशरथ राजा का दरबार लगा है; सामंत और मंत्री तथा उपमंत्री आसपास बैठे हैं। प्रारंभ में जिनेन्द्र भगवान के जय-जयकारपूर्वक पाँच बालक निम्नानुसार मंगलाचरण करते हैं:—]

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगल कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलं॥
सर्व मंगल्य मांगल्यम् सर्व कल्याण कारकं।
प्रधानं सर्व धर्माणां जैनं जयतु शासनम्॥

× × ×

(गीत)

धन्य मुनीश्वर आतमहित में छोड़ दिया परिवार,
—कि तुमने छोड़ा सब घरबार।
धन छोड़ा वैभव सब छोड़ा, समझा जगत असार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार।
धन्य भरतजी आतम हित में छोड़ दिया परिवार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार.....

काया से ममता को टारी, करते सहन परीषह भारी;
पंच महाव्रत के हो धारी, तीन रतन के बने भंडारी;
आत्मस्वरूप में झूलते करते, निज आतम उद्धार... कि तुमने (१)
राग द्वेष सब तुमने त्यागे, वैर विरोध हृदय से भागे;
सत् सन्देश सुना भविजन का, करते बेड़ा पार... कि तुमने० (२)

होय दिगम्बर वन में विचरते, निश्चल होय ध्यान जब धरते;
निजपद के आनंद में झूलते, उपशम रस की धार बरसते;
मुद्रा सौम्य निरखकर 'वृद्धि', नमता बारम्बार... कि तुमने० (३)
धन्य भरत जी आतमहित में छोड़ दिया परिवार... कि तुमने०....

दशरथ—अहो! यह राजपाट, रानियाँ और सुवर्ण के यह राजमहल सब आज तुच्छ भासित होते हैं; क्षणिक और नाशवान मालूम होते हैं। अरे! इस शरीर का चाहे जितना शृंगार किया जाये, तथापि कालक्रम से यह शिथिल हो जाता है; बिजली की चमक की भाँति उसका विनाश हो जाता है। विश्व का कोई भी पदार्थ—मणि-माणिक या महल, पत्नी या पुत्र—कोई जीव को शरणभूत नहीं है। विश्व के पदार्थों में कहीं सुख, शांति या समाधि नहीं है। अहो! धन्य है वह जीवन! धन्य है उस मुनिपद को! धन्य है वह चारित्र की साक्षात् मुद्रा! महा-मुनीश्वर चैतन्य की शीतल गुफा में उतरकर आत्मानन्दरूपी पवित्र जल में डुबकी मारकर अनुपम सुख का वेदन करते हैं। वही है सच्चा शाश्वत सुख। अहो! मुनिमुद्रा यानी मानो चलते-फिरते सिद्ध! उनके रोम-रोम में वैराग्य का ज्वार आ जाता है, आनन्द के अमृत सरोवर वहाँ छलक उठते हैं... केवलज्ञान प्राप्त किया या इसी समय करेंगे—ऐसी पवित्र पुरुषार्थवाली मुनिदशा को नमस्कार हो... नमस्कार हो... उस पवित्रदशा के लिये यह आत्मा झूर रहा है।

अहा! कल का प्रसंग हृदय के समक्ष उपस्थित होने से खेद उत्पन्न होता है.. दुःख होता है.. शोक और वैराग्य की उथल-पुथल मच जाती है। अब तो जीवन को कल्याण के पवित्र मार्ग में लगाकर उज्ज्वल करने के लिये भगवती जिनदीक्षा अंगीकार करने का हमारा दृढ़ निश्चय है। जबकि दूसरी ओर कैकेयी ने विचित्र वरदान माँगा है। अरे! कैकेयी को यह क्या सूझा?—लेकिन नहीं, नहीं; सब ठीक ही है। पदार्थों का प्रवाह क्रमबद्ध परिवर्तित हो रहा है; उससे जानना ही आत्मा का स्वभाव है, परिवर्तन करने का नहीं। ठीक है, मैंने कैकेयी को वचन दिया है, दिये हुए वचन को पालन करना ही आर्य पुरुषों का कर्तव्य है।

मंत्री—प्रभो! आपका हृदय विह्वल और खेद-खिन्न क्यों मालूम होता है? क्या आज्ञा है, कहिये!

दशरथ—मंत्रीजी! क्या आज्ञा दूँ? हमने गृहस्थाश्रम में रहकर जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, भव्य जिनालयों का निर्माण कराके जिनबिम्बों की स्थापना की; शास्त्राभ्यास के लिये

स्वाध्याय भवन और जिनशासन की प्रभावना के अनेक मंगल कार्य किये। अब इस संसार के विषयों से हमारा मन विरक्त हो रहा है। अब हम भगवती जिनदीक्षा अंगीकार करके जीवन को अडिग पुरुषार्थ की कसौटी पर चढ़ाकर आत्मकल्याण करना चाहते हैं। इस संसार से अब जी भर गया है।

मंत्री—प्रभो! ऐसे मंगल कार्य के लिये आपका मंगल भाव सफल हो, लेकिन आप चिन्तित क्यों हैं?

दशरथ—मंत्रीजी! आप जानते हैं कि घोर युद्ध के मैदान में कटाकटी के समय कैकेयी ने रथ का सारथीपना लेकर हमें विजय प्राप्त कराई थी और उस समय प्रसन्न होकर मैंने उसे वरदान दिया था।

मंत्री—हाँ प्रभो! यह बात मुझे अच्छी तरह याद है।

दशरथ—मंत्रीजी, उस समय उन्होंने वह वरदान बिन माँगा रहने दिया था, और आज वे अपने वरदान की माँग कर रही हैं।

मंत्री—कौन सा वरदान माँग रही हैं प्रभो?

दशरथ—क्या बतलाऊँ मंत्रीजी! कहते हुए जीभ नहीं चलती; हृदय दु:ख के भार से काँप उठता है; अंतर अकुला उठता है। जब पुत्र राम के अभिषेक की तैयारियाँ जोर-शोर से चल रही हैं, तब कैकेयी वरदान माँगती हैं कि भरत को राजगद्दी होना चाहिये।

[यह वरदान माँगने कैकेयी का कोई नीच हेतु नहीं था, किन्तु राजा दशरथ के साथ-साथ जब उसका पुत्र भरत भी दीक्षा लेने को तैयार हो गया, तब पति और पुत्र दोनों का एक साथ वियोग होते देख उसे महान आघात हुआ। इसलिये राज्याभिषेक के बहाने कदाचित् भरत को दीक्षा लेने से रोका जा सकेगा—इस हेतु से उसने उपरोक्त वरदान माँगा था।]

मंत्रीगण—(एक साथ) हैं! हम यह क्या सुन रहे हैं!?

मंत्री—ओह! जब आर्य पुरुष रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की तैयारियाँ हो रही हैं; सारी अयोध्या नगरी जब इन्द्रपुरी की भाँति सजाई जा रही है, ध्वजा-पताकाओं से नगरी की सजावट हो गई है; जगह-जगह तोरण और मंडप द्वारों और कमानों से नगरी जगमगा उठी है। चारों ओर लगी हुई दीपमालाओं के प्रकाश के समक्ष स्वर्ग का तेज भी निस्तेज मालूम होता है; अयोध्या नगरी का प्रत्येक नगरजन अपूर्व उत्साह के साथ रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक-महोत्सव मनाने के कार्य में

लग रहा है; उस समय आप राम के बदले भरत का राज्याभिषेक करने की बात कह रहे हैं !—क्या यह सत्य है !!

दशरथ—हाँ, मंत्रीजी ! सत्य ही कह रहा हूँ। मेरा अंतर भी वेदना के आघात से चूर्ण हो रहा है, लेकिन क्या करूँ !

उपमंत्री—प्रभो ! आप वीतरागी जैन शासन के भक्त और महान सम्राट हैं... आप समर्थ और ज्ञान के सागर हो, आपकी विचक्षण बुद्धि कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझाने में समर्थ है, इसलिये आप कोई उचित मार्ग बतलाइये।

दशरथ—मार्ग ? क्या मार्ग बतलाऊँ ? सुनिये, कुछ दिनों पहले 'सर्वभूत हित' मुनिराज के दर्शनों का लाभ मिला था, और उन महासंतु मुनिराज के श्रीमुख से अपने पूर्वभव का वृतान्त सुनकर मेरा हृदय अडिगरूप से वैराग्य की ओर झुक गया है। पवित्र जिनदीक्षा अंगीकार करूँ, वही इस जीवन की परम सफलता है। बाह्य पदार्थ या भोग-विषय, वे कोई आत्मा को सुखी करने में समर्थ नहीं हैं। अब हमारा अंतर्आत्मा रत्नत्रयधर्म द्वारा शीघ्र कल्याण कर लेने के लिये उतावला हो रहा है। और दूसरा प्रसंग भी संसार के प्रति वैराग्यजनक है। कल इस अयोध्या के सिंहासन पर राम के बदले भरत का अभिषेक होगा... रानी कैकेयी को मैंने जो वरदान दिया है, वह अटल ही रहेगा... वचन का पालन करना रघुकुल की रीति है, इसलिये अब विलम्ब करना उचित नहीं; राम को बुलाओ।

मंत्री—जो आज्ञा महाराज ! कौन हाजिर है ?

अनुचर—जी महाराज ! क्या आज्ञा है ?

मंत्री—जाओ, श्री रामचन्द्रजी को बुला लाओ।

अनुचर—जो आज्ञा।

(अनुचर नमन करके जाता है... कुछ ही देर बाद श्री रामचन्द्रजी प्रवेश करते हैं।)

राम—(नमस्कार करके) कहिये पिताश्री, क्या आज्ञा है ?

दशरथ—(कुछ देर तक सोचने के बाद धीमे स्वर में) पुत्र ! तुम्हारा अविनाशी कल्याण हो... मेरे चित्त में वैराग्य और क्षोभ की मिश्रित भावना के बादल छा रहे हैं... जगत के यह बाह्य पदार्थ सूने-सूने तृण समान भासित होते हैं... अंतर में विचार तरंगें उठ-उठकर किसी नई घटना की सूचना देती हैं।

राम—पिताजी, अपने हृदय की बात स्पष्टरूप से समझाइये। आपके अंतरंग क्षोभ को जल्दी से जल्दी दूर करने के लिये मैं आकाश-पाताल एक कर दूँगा... आपकी चिन्तातुर मुद्रा को देखकर मुझे अपार वेदना हो रही है... शीघ्र आदेश दीजिये।

दशरथ—पुत्र! तुम जानते हो कि युद्ध के समय तुम्हारी माता कैकेयी ने रथ चलाकर हमें युद्ध में विजय प्राप्त कराई थी; उनकी रथ चलाने की कुशलता से ही मैं उस समय बच सका था, और मैंने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगने को कहा था; उस समय उन्होंने वह वरदान धरोहर रखा था; अब तुम्हारे राज्याभिषेक के समय वे अपने वरदान की माँग कर रही हैं कि मेरे पुत्र भरत का राज्याभिषेक करो। इस परिस्थिति में यदि मैं भरत का राज्याभिषेक न करूँ तो मेरा वचन भंग होता है और जगत में मेरी अपकीर्ति होगी। और राजनीति की दृष्टि से बड़े पुत्र को छोड़कर छोटे को राज सिंहासन पर बिठाना न्याय विरुद्ध लगता है। और यदि भरत को राज्य दूँ तो तुम और लक्ष्मण क्या करोगे? तुम दोनों पुत्र महान शूरवीर, विनयवंत और विचारशील हो; समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूँ? यह कठिन समस्या ही मेरी चिन्ता और दु:ख का कारण बन रही है।

राम—पिताजी, आप निश्चिंतरूप से अपने वचन का पालन कीजिये। हमारी चिन्ता छोड़कर हर्षपूर्वक भरत को राज्य-सिंहासन पर बिठाइये। यदि वचन का भंग होने से आपके वंश की अपकीर्ति हो तो राज सम्पदा या इन्द्र की विभूति भी हमारे लिये किस काम की? जो सुपुत्र है, वह वही करता है जिससे माता-पिता को किंचित् दु.ख न हो। यही तो पुत्र की पुत्रता है। नीति के पंडितों ने कहा है कि—जो पिता को पवित्र करे, उसका दु:ख दूर करे, वही पुत्र है। पवित्र करना यानी पिता को धर्मोन्मुख करना। हे पिताजी! मुझे राज्य सम्पदा का मोह नहीं है; वनवास भी हमारे लिये कठिन नहीं है; हमें दु:ख मात्र इतना है कि जब आप महा-मुनिधर्म की भगवती दीक्षा अंगीकार करने के लिये दृढ़तापूर्वक तैयार हुए हैं, उसी समय यह प्रसंग उपस्थित हुआ है।

दशरथ—पुत्र! तुम्हारे वचन मेरे हृदय की गहराई तक पहुँच रहे हैं। तुम्हारे हृदय की विशालता को देखकर मेरा हृदय संतोष और शांति का अनुभव कर रहा है। मुझे यही विचार आता है कि अहा! इस विश्व के खेल कैसे न्यारे हैं! यह क्षणिक सम्बन्ध कैसे अद्‌भुत हैं!!

(सेनापति आकर नमस्कार करते हैं)।

दशरथ—क्या समाचार है सेनापति?

सेनापति—महाराज! मैं राजकुमार भरत के महल से आ रहा हूँ। आप जिनदीक्षा अंगीकार

कर रहे हैं, यह जानकर भरत के हर्ष का पार नहीं है।

दशरथ—आनन्द क्यों न हो! मुनिदशा तो परमात्मपद प्राप्त करने का महोत्सव है! ऐसे प्रसंग पर भरत जैसे वैरागी धर्मात्मा को आनन्द हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

सेनापति—किन्तु महाराज! राजकुमार भरत के अपार हर्ष का कारण तो यह है कि उन्होंने भी आपके साथ जिनदीक्षा अंगीकार करने का निर्णय किया है। उनकी जिनदीक्षा की चिरकालीन भावना आज पूरी होगी, इसीलिये उन्हें आनन्द हो रहा है।

सब मिलकर—हें! यह क्या? क्या भरतजी भी मुनिव्रत धारण करने के लिये तैयार हुए हैं? इतनी छोटी-सी उम्र में!

दशरथ—अहा! जीवों के परिणाम कैसे स्वतंत्र हैं! जगत के पदार्थों की कैसी गति है! कैसी स्थिति है! जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि में आये हुए सर्व पदार्थों की स्वतंत्रता की घोषणा यथार्थ सत्य है... क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले पदार्थ अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव को धारण करके स्वतंत्र परिणमित हो रहे हैं। वहाँ कैसा हर्ष? और कैसा शोक? मात्र ज्ञान करना ही जीव का कर्तव्य है... अहा! क्या भरत मेरे साथ ही दीक्षित होगा?

[भरत का प्रवेश। दरबारीगण खड़े होकर स्वागत करते हैं; राजा दशरथ और श्रीराम को नमस्कार करके भरत वैराग्यपूर्वक कहते हैं:—]

भरत—हाँ, पिताजी! मैं भी आपके साथ अटल मुनिपद धारण करके अपने आत्मकल्याण की साधना करूँगा; आप मुझे आज्ञा देवें।

दशरथ—हे वत्स! तुम्हारी भावना श्रेष्ठ है... किन्तु अभी हाल ही तुम्हारी माता ने तुम्हारे राज्याभिषेक का वरदान माँगा है; इसलिये कुछ दिनों तक तो राज्य करो... अभी तो तुम बालक हो... वृद्ध होने पर खुशी से जिनदीक्षा लेना।

भरत—पिताजी! इस क्षणभंगुर जीवन का क्या विश्वास! आयु पूर्ण होते ही यह नाशवान शरीर पानी के बुदबुदे की भाँति छूट जाता है। मृत्यु बालक-वृद्ध या युवक में भेदभाव नहीं रखती... क्या पता कब किसकी मृत्यु हो जाये? इसलिये आत्महित में प्रमाद करना योग्य नहीं। आप मुझे आज्ञा दीजिये।

सेठ—लेकिन राजकुमार! महाराज दीक्षा ले रहे हैं, इसलिये आप ही इस राज्य के स्वामी हैं... आप प्रजा का पालन कीजिये... प्रजाजन आपसे निवेदन करते हैं। मेरी बात मानें तो आपको

इस समय गृहस्थाश्रम में रहकर व्यवहार धर्म का पालन करना चाहिये; उस व्यवहार धर्म से भी परम्परा से मोक्ष होगा। फिर मुनि होने की क्या आवश्यकता है ?

भरत—नहीं, सेठजी ! ऐसा नहीं होता। व्यवहार धर्म द्वारा कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती; वह तो पुण्यबंध का कारण है। पुण्य से तो क्षणिक संयोगों की प्राप्ति होकर छूट जाता है, उससे जीव का कल्याण या मुक्ति नहीं होती।

सेठ—अरे राजकुमार ! व्यवहार धर्म से मोक्ष होता है-ऐसा तो हमारे पूर्वजों के समय से अनेक लोग मानते आ रहे हैं—वह क्या झूठ होगा ?

भरत—हाँ, वह अवश्य झूठ है। मोक्ष की प्राप्ति तो निश्चयधर्म की आराधना से ही होती है, व्यवहार धर्म से नहीं। अनंत जिनेन्द्र भगवन्तों ने जिस मार्ग में विचरण करके मोक्षपद प्राप्त किया, वह निश्चय सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही मार्ग है, न कि व्यवहारधर्म का। इसलिये निश्चय रत्नत्रय की आराधना ही मुक्ति का पंथ है। हम मुनि होकर अब उसी की आराधना करना चाहते हैं।

सेठ—राजकुमार ! आपका तत्त्वज्ञान अत्यन्त उच्च है, किन्तु आपकी उम्र अभी छोटी है। इतनी छोटी उम्र में कठिन मुनिधर्म का पालन आप कैसे कर सकेंगे ? नग्न-दिगम्बर रहकर जंगल में विचरना, कड़ाके की ठंड और असह्य ग्रीष्म का ताप सहना, निर्दोष आहार लेना, धरती पर सोना;—इत्यादि व्रत-तप आपका कोमल शरीर कैसे कर सकेगा राजकुमार ?

भरत—अरे सेठजी ! आप नगर के नगरपति और समाज के प्रमुख होकर ऐसा क्या कहते हैं ? क्या मुनिदशा कष्टदायक है ? कदापि नहीं सेठजी ! आप भूलते हैं। मुनिदशा कठिन या दुःखदायी नहीं है; संकल्प-विकल्प आशा-तृष्णा रहित होने से वह तो आनन्ददायक है। अहा ! मुनिदशा तो स्वरूप विश्रांतमय चारित्र का स्रोत है, वहाँ शांति की लहरें उछलती हैं। आनन्द की हिलोरों में झूलता और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता हुआ आत्मा सुख और समाधि में सराबोर हो जाता है; स्वानुभव से तृप्त-तृप्त हो जाता है। अहा, जैन मार्ग तो शूरवीरों का मार्ग है, उसमें कायरों का काम नहीं है। धन्य है उस आनन्दरस-उपशरमरस के समुद्र में झूलती हुई मुनिदशा को !

सेठ—वाह राजकुमार ! वाह ! धन्य ! आपकी बात तो अति उत्तम है, किन्तु धर्म की ऐसी उच्च प्रकार की बातें हम जैसे श्रावकों की समझ में नहीं आतीं। हम तो सीधी-सी बात जानते हैं कि कुछ दान-पुण्य करें तो सुख होता है। ऐसी गहरी बातें तो आप जैसे शास्त्री ही जान सकते हैं। क्यों है न शास्त्रीजी ?

शास्त्रीजी—ठीक है सेठजी! आप ठीक कहते हैं। गृहस्थ तो पुण्य-भक्ति-दान-दया के व्यवहारधर्म का ही आचरण कर सकते हैं, और उस व्यवहार धर्म से ही उन्हें मुक्ति होती है।

भरत—अरे शास्त्रीजी! शास्त्र पढ़-पढ़कर आप यह क्या घोटाला करते हैं? क्या गृहस्थों को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप निश्चयधर्म नहीं होता? पुण्य-भक्ति-दान-दया के भाव तो शुभराग हैं, उस राग द्वारा क्या कभी मुक्ति हो सकती है? जैन-शासन में तो राग को बंध का कारण कहा है, मोक्ष का नहीं।

शास्त्रीजी—आपकी बात सच है राजकुमार! लेकिन व्यवहार भी होना तो चाहिये न? मैंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया है; उसमें व्यवहार को धर्म के आधाररूप कहा है।

राम—वाह शास्त्रीजी! आपने खूब अध्ययन किया!! क्या यही आपके अध्ययन का सार है? व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर जो निश्चय स्वभाव का आश्रय करता है, उसे उपचार से व्यवहार का आधार कहा है; किन्तु व्यवहार के ही अवलम्बन से लाभ मानकर जो उसमें अटक जाता है, उसके लिये तो व्यवहार के अवलम्बन का फल संसार ही है—ऐसा शास्त्रों में कहा है—यह क्या आप नहीं जानते?

शास्त्रीजी—तो फिर मुनिवर पंच महाव्रत का पालन किसलिये करते हैं? अट्ठाईस मूलगुण किसलिये धारण करते हैं? तीर्थयात्रा आदि का क्या मतलब?

भरत—शास्त्रीजी! मुनियों को राग की भूमिका में ऐसे भाव होते अवश्य हैं, किन्तु वे भाव कहीं मोक्ष का कारण नहीं हैं, मोक्ष का कारण तो उस समय उन्हें जो शुद्ध रत्नत्रय वर्तता है, वही है। भूमिकानुसार व्यवहार और शुभराग होता है, किन्तु उन भावों द्वारा कभी मोक्ष नहीं हो सकता। मोक्ष की प्राप्ति तो अंतरंग श्रद्धा-ज्ञान तथा वीतरागी चारित्र के बल से होती है, समझे? अहा! वीतरागी रत्नत्रय की आराधक मुनिदशा! क्या बात कहें उसकी? मुनि तो मुक्तिपुरी के प्रवासी हैं... उनके दर्शन से भी आत्मा का रोम-रोम उल्लसित हो जाता है... वाह मुनिदशा वाह!

'सफल हो धन्य धन्य वह घड़ी
जब ऐसी अति निरमल होसी परमदशा हमरी
धार दिगम्बर दिक्षा सुन्दर त्याग परिग्रह अरि
वनवासी कर पात्र परिषह... धरि हों धीर धरी। सफल०

दुर्धर तप निर्भर नित तपि हों... मोह कुवृक्ष्य हरी
पंचाचार क्रिया आचरिहों सकल सार सुथरी। सफल०
पहाड़ पर्वत अरु गिरि गुफा में उपसर्गों सहज सरी
ध्यान धारा की दौर लगाके परम समाधि धरी। सफल०
निर्जरता पहरन झरसी निज अनुभव मेघ झरी
परमशांत भावन की तल्लिनता; होसे वृद्धि खरी। सफल०
तिरेसठ प्रकृति भंग जब होसी, युत त्रिभंग सगरी
तब सम्यग्दरस विबोध सुख, वीर्यकल प्रसरी। सफल
लखि हों सकल द्रव्यगुण पर्जय, परिणति अति गहरी
मुनिपद से जब सहज ही मिलहो अचल मुक्ति नगरी। सफल०

अहा! परम वीतरागीता द्वारा उल्लसित ऐसी चारित्रदशा ही अडोल मुनिपद है! अब तो हम ऐसे मुनिपद को अंगीकार करके आत्मा की परम सिद्धि को साधेंगे।

सेठ—महाराज! यह वैरागी राजकुमार भरत हमारे समझाने से नहीं मान सकते। अब तो आप ही इन्हें समझाइये! आपकी बात जरूर मानेंगे!

दशरथ—बेटा भरत! सब की इच्छा है तो तुम कुछ समय तक गृहस्थाश्रम में रहो.. गृहस्थदशा में रहकर भी मोक्ष की साधना की जा सकती है।

भरत—पिताजी! आप मुझे वृथा ही मोह में किसलिये फँसाते हैं? इन्द्रिय विषयों के वशीभूत ऐसे गृहस्थाश्रम में तो अनेक प्रकार के काम-क्रोधादि वर्तते हैं, उसमें मुक्ति कहाँ से होगी? पिताजी! आप स्वयं गृहस्थाश्रम को छोड़कर जिस पवित्र मार्ग को अंगीकार कर रहे हैं, उस पर आने से मुझे क्यों रोकते हैं? यदि गृहस्थाश्रम में रहकर भी मोक्ष की साधना हो सकती है तो आप स्वयं उसे क्यों छोड़ रहे हैं? मोक्ष की साधना के लिये बाह्य-अभ्यन्तर समस्त परिग्रह को छोड़कर मुनि होने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। हाँ, यह सच है कि गृहस्थदशा में भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप धर्म हो सकता है; अधिक से अधिक पंचम-गुणस्थानरूप देशचारित्र भी हो सकता है, किन्तु मुनिदशा तो गृहस्थाश्रम में कभी नहीं होती, और मुनिदशा के बिना मोक्ष का होना असम्भव है।

राम—भैया भरत! तुम्हारी बात सच है भाई! अन्त में तो हम सबको वही मार्ग अंगीकार

करना होगा, उसी से हमारा उद्धार हो सकेगा। किन्तु पिताजी ने माता कैकेयी को वचन दिया है, उनके वचन की पूर्ति के लिये तुम इस समय दीक्षा का विचार छोड़ दो। समस्त मुनियों को भी उस भव में मोक्ष नहीं होता; इसलिये अभी कुछ काल तक तुम गृहस्थाश्रम में रहकर, इस राज्य का संचालन करके माता-पिता के वचन की पूर्ति करो।

भरत—आप सत्य कहते हैं भैया! यद्यपि सभी मुनि उसी भव में मुक्ति प्राप्त नहीं करते; तथापि जो मुनिवर महापुरुषार्थ द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर देते हैं, वे उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं, जबकि गृहस्थदशा में तो मुक्ति मिलती ही नहीं।

राम—तुम बड़े बुद्धिमान हो भाई! ....तुम्हारा तत्त्वज्ञान भी प्रशंसनीय है... तुम्हारे छलकते हुए वैराग्य सरोवर को देखकर हमें अपार हर्ष होता है; लेकिन इस समय पूज्य माता-पिता की परिस्थिति को देखते हुए तुम अपना मुनिव्रत धारण करने का विचार कुछ समय के लिये स्थगित रखो तो अच्छा हो।

भरत—भैया, मैं आपके कथन का तात्पर्य समझ रहा हूँ; आपकी सलाह योग्य ही है; किन्तु संसार या राजपाट के प्रति मुझे किंचित् रुचि नहीं होती। अपने मध्यबिन्दु से जो वैराग्य समुद्र उछला, उसे कौन रोक सकता है? गृहस्थधर्म तो हीनशक्ति पुरुषों के लिये है। मेरी भावना तो मुनिधर्म के आराधना की है, इसलिये आप सब मुझे आज्ञा दें।

दशरथ—पुत्र! धन्य है तुम्हारी भावना को। तुम भव्यों में शिरोमणि हो। तुम्हारा आत्मा जिन शासन के रहस्य को जानकर प्रतिबुद्ध हुआ है; तुम्हारी बात सत्य है। हे धीरवीर पुत्र! तुम विनयवंत हो, तुमने कभी मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया; मेरी एक बात सुनो।

भरत—कहिये पिताजी! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

दशरथ—सुनो वत्स! युद्ध जब हार-जीत की अन्तिम सीमा पर था, उस समय तुम्हारी माता ने सारथी बनकर मुझे विजय प्राप्त कराई थी और मैंने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगने को कहा था। उस समय तो उन्होंने वह वरदान अपने पास सुरक्षित रखा था। आज मेरे साथ तुम्हें भी दीक्षा के लिये तत्पर देखकर उन्हें महान आघात होता है और तुम्हें दीक्षा से रोकने के लिये वे वरदान माँग रही हैं कि "मेरे पुत्र भरत को राज-सिंहासन पर बिठाओ।" अपने वचन के अनुसार मैंने उनका वरदान स्वीकार कर लिया है। इसलिये हे पुत्र! तुम इस राजगद्दी को स्वीकार करके महासाम्राज्य का पालन करो, ताकि संसार में मेरी अपकीर्ति न हो। यदि तुमने मेरी बात स्वीकार न

की तो जगत में मेरी अपकीर्ति होगी कि दशरथ ने वचन का पालन नहीं किया; और दूसरे तुम्हारी माता भी तुम्हारे वियोग में दु:खी होकर मर जायेगी।

राम— भरत! तुम्हें पिताजी की आज्ञा का अवश्य ही पालन करना चाहिये। पुत्र का कर्तव्य है कि माता-पिता को शोक समुद्र में न डालकर उन्हें सुखी करे। और हे बंधु! तुम्हारी उम्र भी तो अभी तप करने योग्य नहीं है; इसलिये पिताजी के वचन पालन के हेतु से तुम इस राज्य को स्वीकार करो; ताकि जगत में हमारे कुल की कीर्ति चन्द्रमा के समान फैले। तुम जैसा गुणवान पुत्र होने पर भी माताजी शोक संतप्त होकर मृत्यु प्राप्त करें—क्या यह उचित है? हमारे होते हुए तुम्हें राज सिंहासन पर बैठने में संकोच का होना स्वाभाविक है। लेकिन भैया, पिताजी की दीक्षा के बाद हम इस राज्य वैभव को छोड़कर दूर देशान्तर में जाकर किसी ऐसे वन-पर्वत में वास करेंगे, ताकि किसी को हमारा पता न चले। तुम निश्चिन्त होकर यह राज्यासन ग्रहण करो।

[इतना कहकर रामचन्द्रजी भरत का हाथ पकड़कर उन्हें सिंहासन की ओर ले जाते हैं... राजा दशरथ सिंहासन से उठकर कहते हैं:—]

[नोट - यह कथन तो संवाद को रोचक बनाने के लिये है, मूल कथन तो जो पद्मपुराण में है वही मानने योग्य है।]

दशरथ—आओ पुत्र भरत, आओ! इस राजसिंहासन को सुशोभित करो! शास्त्रीजी! अक्षत और कुमकुम द्वारा भरत कुमार को राजतिलक करो...

[शास्त्रीजी तिलक करते हैं और राजा दशरथ, भरत को सिंहासन पर बिठाकर कहते हैं—]

दशरथ—मंत्रीजी और नगर सेठ! आज से मैं पुत्र भरत को अयोध्या का राज-सिंहासन पर बिठाता हूँ। अब यही तुम्हारे राजा हैं। बेटा भरत! आपसे राज्य का पतवार तुम्हारे हाथ में है... प्रजा का भलीभाँति पालन करो। तुम्हारा कल्याण हो—ऐसा मेरा आशीर्वाद है। राज्यासन को सुशोभित करके रघुकुल की परम्परा को उज्ज्वल करना... और जिनशासन की महाप्रभावना द्वारा शासन की शोभा बढ़ाना। जिनमार्ग की जगमगाती हुई ज्योति को अधिक दीप्तिमान करना। बस अब मैं निश्चिन्त होकर मुनिदीक्षा अंगीकार करके आत्मा के परमपद की साधना के लिये वन में जाता हूँ।

[राजा दशरथ दीक्षा लेने जाते हैं; पर्दा गिरता है।]

(संवाद का पहला अंक समाप्त हुआ। शेष अगले अंक में....)

भारत की राजधानी में पूज्य श्री कानजी स्वामी पधारे
उस अवसर पर

कांग्रेस प्रमुख श्री उछरंगराय ढेबर का

स्वागत-प्रवचन

सं० २०१३ में श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा से लौटते हुये पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी संघ सहित भारत की राजधानी दिल्ली में पधारे थे, उस समय कांग्रेस प्रमुख श्री ढेबरभाई राजधानी की नाना प्रवृत्तियों में व्यस्त होते हुये भी प्रायः प्रतिदिन पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का लाभ लेते थे। ता० ६-४-५७ के दिन उन्होंने एक स्वागत-प्रवचन किया था; उसी का मुख्य सार यहाँ दिया जा रहा है।

****

भारत की इस राजधानी में आप सबकी और मेरी ओर से मैं महाराज श्री का सन्मान करने के लिए खड़ा हुआ हूँ।

महाराज श्री के प्रमुख शिष्य रामजीभाई कुछ नरम तबियत होने के कारण इस समय यहाँ आ नहीं सके हैं। वे मेरे एक बुलंद साथी हैं; मैं जब सौराष्ट्र में गया तब से, करीब ३० साल से, रामजीभाई को मेरा बड़ा भाई समझता हूँ। हालाँकि उनका मार्ग अलग रहा, और मेरा अलग रहा, फिर भी हमारे दोनों के बीच में प्रेम-आदर की कमी नहीं हुई। उनके हृदय में महाराज के लिए जो प्रेम व आदर है, उतना ही मेरे हृदय में है। आप सबकी तरह, महाराज श्री के परिवार का मैं भी एक अंगभूत हूँ। महाराजश्री के अन्य शिष्य (नानालालभाई वगैरह) हैं, वे भी मेरे बड़े भाई हैं।

महाराज श्री की दुनियाँ एक अलग दुनियाँ है और महाराज श्री मेरे साथियों को एक के बाद एक अलग दुनियाँ में ले जा रहे हैं। हमारा कार्य क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हुये भी हमारे बीच कोई अंतरभेद नहीं।

महाराज श्री के जीवन के बारे में आप लोगों ने बहुत सुना होगा। उनके बारे में मैं इतना ही कहूँगा कि—उनका जीवन एक सत्यदृष्टा का जीवन है, और वे निर्भीक हैं। जिस चीज़ में विश्राम है उनका विश्वास है उसको वे निडरता से कह रहे हैं। अगर गुरु में ऐसी निर्भीकता न हो तो वह शिष्यों को बीच में ही रुला दे—निर्भीकता के बिना सत्य मार्ग पर कैसे ले जाय?

देहली में पू० श्री ज स्वामी के स्वागत में भाषण देते हुए श्री ढेबर भाई

महाराज श्री का चरित्र सत्य का भान करानेवाला है; वे अपना जो संदेश सुना रहे हैं, वह एक अनुभव-संदेश है, और उनकी बात तर्कशुद्ध है। उनके उपकार का बदला हम लोग कैसे देवें? उनके लिए तो एक ही बदला है कि—हम कोशिश करें उनके मार्ग पर चलने की! कोरी तारीफ से उन्हें संतोष नहीं होगा, परन्तु वे अपने को जो सन्देश दे रहे हैं, उसे समझने से उन्हें सन्तोष होगा। इसीलिये प्रवचन में आप बारम्बार कहते हैं कि—'समझे!' 'समझ में आता है?' जिस प्रकार गुरु प्रेम से शिष्य को पढ़ाते हुये कहता है कि—बेटा! समझा!! समझा!!! वैसे ही आप भी प्रवचन में बारबार श्रोताजनों से पूछते हैं कि—'समझ में आ रहा है न?'

महाराज श्री जो चीज समझा रहे हैं, वह भारतवर्ष की मूल चीज़ है, और आज भारतवर्ष की इस चीज़ की सारे विश्व को जरूरत है, बड़े-बड़े लोगों का हृदय सेवा भाव से भरा हुआ है; उसमें महाराज श्री का सन्देश ऐसा नहीं कि—तुम सेवक मिट जाओ, लेकिन महाराजश्री यह कहते हैं कि तुम समझो कि—दुनियाँ का शत्रु अणुबम नहीं है, उसकी उत्पन्न करनेवाला व्यक्ति भी नहीं, लेकिन जो राग-द्वेष की भावना है, वही दुनियाँ का शत्रु है; राग-द्वेष की प्रबल-भावना ने ही ऐसे

हथियारों की उत्पत्ति की है, इसलिये हथियार शत्रु नहीं किन्तु राग-द्वेष ही शत्रु हैं। जिस विकारात्मक भूमि के ऊपर हम एक दूसरे को शत्रु समझ रहे हैं, उसका नाश कैसे है, यह महाराज श्री बतला रहे हैं।

अपना भारत देश अध्यात्म प्रधान है। महाराज श्री का संदेश भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति की नींव-जड़ है। अगर भारतवर्ष को सारे विश्व में दैदीप्यमान बनना है, तो इसी नींव (पाया) के ऊपर ही बन सकता है। अपनी इस नींव के द्वारा आज भारतवर्ष दुनियाँ को ऊँचा उठाने का प्रयत्न कर रहा है। 'पंच शील' के द्वारा भारत आज निर्वैरबुद्धि का फैलाव करना चाहता है; महाराज श्री कहते हैं कि—राग-द्वेष ही बैर बुद्धि का मूल है; निर्वैरबुद्धि कैसे हो, यह आप समझाते हैं। महाराज श्री की नकारात्मक भूमिका नहीं है, लेकिन अनुभवात्मक भूमिका के ऊपर आप मार्ग दिखला रहे हैं।

मुझे २० साल से महाराज श्री के सन्देश सुनने का सौभाग्य मिला है। मेरे साथीगण उनका सन्देश निरंतर सुन रहे हैं, और रात-दिन उनकी यह भावना रही कि—मुझे भी महाराज श्री की ओर खींचना!

महाराज अपने सन्देश से एक सत्य दर्शन समझाने की कोशिश कर रहे हैं। महाराजश्री अपनी शिष्य मंडली के साथ यात्रा के लिये निकले और यहाँ की जनता को भी उनका सन्देश सुनने का लाभ मिला। इस नगरी में मैं आप सबकी ओर से महाराजश्री का सन्मान करता हूँ। सत्य का सन्देश सुनाकर वे हमको जागृत कर रहे हैं, और हम महाराज श्री को विश्वास देते हैं कि—हम भी इसके लिये कोशिश करेंगे।

अन्त में एक बार फिर मैं सबकी ओर से और मेरी ओर से महाराज श्री का स्वागत करता हूँ।

दिल्ली के 'वीर सेवा मन्दिर' में
कांग्रेस प्रमुख श्री ढेबरभाई की

पूज्य गुरुदेव से मुलाकात

इसी दिन शाम को सात बजे श्री वीर सेवा मन्दिर में जहाँ कि—पूज्य गुरुदेव ठहरे थे, खास मुलाकात करने श्री ढेबरभाई पधारे थे। कांग्रेस प्रमुख की तौर पर नहीं परन्तु एक प्रेमी-जिज्ञासु सज्जन की भाँति इस मुलाकात के दरम्यान में पूज्य गुरुदेव के साथ करीब एक घण्टे धार्मिक बातचीत की थी। उसी का कुछ विवरण यहाँ नीचे दिया जा रहा है।

शुरुआत में श्री ढेबर भाई ने रामजीभाई को याद किया था कि—वे यहाँ क्यों नहीं आ सके? क्योंकि रामजीभाई की तबियत बराबर नहीं होने से वे दिल्ली नहीं आ सके थे।

पूज्य गुरुदेव ने ढेबरभाई को सोनगढ़ का परिचय दिया था। अनेक भाई बाहर ग्रामों से आकर स्थायी तौर पर सोनगढ़ रह रहे हैं, मात्र तत्वज्ञान का लाभ लेने के निमित्त वहाँ आकर रह रहे हैं। दो बार के प्रवचन के अतिरिक्त सारे दिन स्वाध्याय-चर्चा चलती रहती है। बहिनों के लिये ब्रह्मचर्याश्रम है; (यहीं इस आश्रम का तथा दोनों बहिनों का कुछ परिचय भी गुरुदेव ने दिया) इसके बाद गुरुदेव ने कहा कि—हमारा विषय तो अध्यात्म का है। अन्दर इस देह से भिन्न आत्मा क्या चीज़ है? यह हमारा मुख्य विषय है। जगत इस बाहर के क्रिया कांड में धर्म मान बैठा है, वह वास्तव में धर्म नहीं है। 'मैं कौन हूँ'—आत्मा क्या चीज़ है? इसी को समझने पर हमारा मुख्य जोर है।

ढेबरभाई—आत्मधर्म पर जोर देनेवाले प्रथम श्रीमद् राजचन्द्र हुये... तब से यह बात प्रकाश में आयी।

गुरुदेव—हाँ, बाद ही बाद में श्रीमद् राजचन्द्र हुये... उनमें बहुत शक्ति थी... गाँधीजी ने भी उनसे २७ प्रश्न पूछे थे, उनका जवाब उन्होंने दिया है। गाँधीजी ने उन्हें गुरु स्वीकार किया... परंतु दुनियाँ उन्हें ज्यादा न समझ पायी। उन्हें जातिस्मरणज्ञान भी था... ढेबरभाई द्वारा जाति-स्मरण ज्ञान संबंध में पूछने पर गुरुदेव ने कहा—ज्ञान की अमुक निर्मलता (-प्रगटता) में भान होता है कि इस भव पहले यह जीव कहाँ था! यह जीव कहीं यहीं नया नहीं हुआ है, वह तो अनादि से है; तो इस भव से पहले वह वास्तव में कहाँ था! जिस प्रकार यहाँ बहुत से मनुष्यों को दस-बीस-पचास या इससे भी ज्यादा वर्ष पहले के इस भव की बात याद आती है, उसी प्रकार किसी को इस भव से

पहले जीव कहाँ था, उसका भी स्मरण हो जाता है।

ढेबरभाई—ऐसा पूर्व भव का ज्ञान अब भी हो सकता होगा ?

गुरुदेव—हाँ, इस समय भी ऐसे जीव हैं। परन्तु आत्मा क्या चीज़ है, उसका ज्ञान करना मुख्य चीज़ है। पूर्व भव का ज्ञान हो या न हो, उसके साथ धर्म का संबंध नहीं है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसका पहले ज्ञान करना चाहिये। इस देह में रहता हुआ, देह से जुदा ज्ञानस्वरूप आत्मा है—उसकी पहिचान बिना यह जन्म-मरण रुक नहीं सकता। आत्मा का क्या स्वरूप है, उसके अनुभव बिना पूर्व भव में आत्मा कहाँ था, वह कदाच जान ले तो भी उससे कहीं जन्म-मरण रुक नहीं सकता।

भिन्न-भिन्न धर्मों की साम्यता बावत बात आने पर गुरुदेव ने दृष्टांत देकर कहा—देखो भाई! बाहर में ऊपरी दृष्टि से देखनेवाले को तालाब का पानी किनारे व मध्य में जिस प्रकार एक सरीखा लगता है, परन्तु भीतर उतरकर मापे तो कितना फर्क है, उसका अनुभव होता है। उसी प्रकार जैन धर्म में और अन्य धर्मों में मूलभूत बातों का मोटा फर्क है। मैं भी पहले मुँह पत्ती में (स्थानकवासी संप्रदाय में) था, परंतु इसमें मूल बातों में बहुत फर्क होने के कारण मुझे ऐसा लगा कि—मैं इसमें रह नहीं सकूँगा; अतः सं० १९९१ में उसमें से परिवर्तन कर डाला।

ढेबरभाई—आपके उपदेश का सारा लक्ष्य आत्मा पर है, और यही भारत की ब्रह्मविद्या है।

गुरुदेव—हाँ, ब्रह्मविद्या-आत्मविद्या यही मूल चीज़ है, हिंद में इस ब्रह्मविद्या के संस्कार हैं, ऐसा अन्य जगह नहीं। परंतु आज तो लोग इस ब्रह्मविद्या को भूलकर बाहरी झंझटों में पड़े हैं। जिस प्रकार छोटी पीपल में शक्तिरूप से चरपराहट भरी है; उसी प्रकार आत्मा में आनंद भरा है, और वह आत्मा में से ही प्रगट होता है—इस बात का संस्कार आज हिंद में ही है, अन्य कहीं नहीं। ब्रह्मचर्य पालन करना और आत्मज्ञान करना, इन दो बातों पर मेरा विशेष वजन है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा भी है—

पात्र बिना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान;
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान।

ढेबरभाई—यह बहुत उत्तम बात है, आज तो लोगों में परिग्रह-संज्ञा-ममत्व बहुत बढ़ गया है। लोगों को इस बात की खास जरूरत है।

उपरांत जाते-जाते रामजीभाई को प्रणाम कहलवा देंगे कहकर श्री ढेबर भाई प्रसन्नतापूर्वक विदा हुये थे।

सम्यक्त्व की महिमा सूचक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—पशुता होने पर भी मनुष्य के समान विवेकी कौन है ?

उत्तर—''पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतना''—और सम्यक्त्व द्वारा जिसकी चैतन्य सम्पत्ति व्यक्त हो गई है—ऐसा सम्यक्दृष्टि जीव पशुता (तिर्यंच शरीर) होने पर भी मनुष्य-समान विवेकी हिताहित के विचारयुक्त आचरण करता है, इसलिये मनुष्य है।—देखो, सम्यक्त्व का प्रभाव!! (सागार धर्मामृत: ४)

प्रश्न—एक क्षण में अनंत भव का नाश कर देने की शक्ति किसमें है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन ऐसी वस्तु है कि यदि जीव एक क्षणमात्र भी उसे प्रगट करे तो उसके भवभ्रमण का नाश हो जाये। एक क्षण में अनंत भव का नाश कर देने की शक्ति सम्यग्दर्शन में है। (—पूज्य गुरुदेव)

प्रश्न—जो अपना कल्याण चाहते हों, उन्हें पहले क्या करना चाहिये ?

उत्तर—हे जीवो! यदि तुम आत्मकल्याण चाहते हो तो पवित्र सम्यग्दर्शन प्रगट करो। ज्ञानी सम्यग्दर्शन को कल्याणमूर्ति कहते हैं; इसलिये हे कल्याण के इच्छुक जीवों! तुम सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का अभ्यास करो। (—पूज्य गुरुदेव)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये श्रीगुरु के पास से आत्मस्वभाव का साक्षात् श्रवण करके अचिंत्य चैतन्य शक्तिसम्पन्न एवं स्वत: परिपूर्ण ऐसे अपने शुद्ध ज्ञानस्वभाव की रुचि करो... प्रीति करो... निर्णय करो... लक्ष करो... आश्रय करो... इसप्रकार शुद्ध आत्मा की लगन, वह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

आत्मा स्वयं ज्ञान है अपने को भूलकर परद्रव्य में या रागादि में कर्तृत्व मानता है या ज्ञातास्वरूप को सम्हालकर स्वसन्मुख ज्ञातापना कर सकता है, ऐसा निर्णय के द्वारा प्रथम ''मैं ज्ञान हूँ''—इसप्रकार अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके फिर अंतर में दृढ़ प्रयत्नपूर्वक बारम्बार उसका अभ्यास करके मति-श्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करने से शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प आनन्दसहित स्वानुभूति होती है; यही सम्यग्दर्शन होने की रीति है। (—पूज्य गुरुदेव)

प्रश्न—मनुष्यदेह की अपेक्षा अनंतगुना दुर्लभ क्या है ?

उत्तर—संसार में मनुष्यपना दुर्लभ है; मनुष्यपना अनंतकाल में प्राप्त होता है; किन्तु सम्यग्दर्शन तो उससे अनंतगुना दुर्लभ है। मनुष्यपना अनंतबार मिला है, किन्तु सम्यग्दर्शन पूर्वकाल में कभी प्राप्त नहीं हुआ है; इसलिये यह मनुष्यपना पाकर वही महान कर्तव्य है।

(—पूज्य गुरुदेव)

प्रश्न—इस काल भरतक्षेत्र में सम्यग्दर्शनधारी महात्मा हैं ?

उत्तर—हाँ; यद्यपि इस काल इस भरतक्षेत्र में ऐसे समयग्दर्शनधारी महात्माओं की अत्यन्त विरलता है, तथापि खारे पानी के समुद्र में मीठे पानी के कुएँ समान इस समय भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा इस भूमि में विचर रहे हैं। जगत में सम्यग्दृष्टि जीवों की त्रिकाल विरलता ही होती है।

प्रश्न—सर्वोत्कृष्ट सुख के हेतुभूत कौन हैं ?

उत्तर—हे सर्वोत्कृष्ट सुख के हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार है।

(—श्रीमद् राजचन्द्र)

प्रश्न—संसार में अनंतानंत जीव अनंत दु:ख क्यों भोगते हैं ?

उत्तर—इस अनादि संसार में अनंतानंत जीव सम्यग्दर्शन के आश्रय बिना अनंतानंत दु:ख का अनुभव करते हैं।

❀

''हम तो बालक समान हैं''

गणधरादि गुरुजनों के प्रति अतिविनय से बालक-समान बनकर पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि—अहो, गुणों के सागर गणधरों और श्रुतधरों ने इस परमागम में जो गूढ़ गम्भीर भाव भरे हैं, उन्हें खोलने की शक्ति मुझ जैसे मंद बुद्धि में कैसे हो सकती है ?—उन गणधरादि जितनी अगाध बुद्धि हममें नहीं हैं; उनके समक्ष तो हम बालक समान हैं। कहाँ वे बुद्धि के सागर और कहाँ हम !—तथापि गुरु परम्परा से जो कुछ भाव हमें प्राप्त हुए हैं, वे हमारे अंतर में बारम्बार अति पुष्ट रुचि से घुँटते रहते हैं—पुन: पुन: उन भावों का मंथन चलता रहता है और इसलिये भव्य जीवों के हितार्थ यह टीका भी रची जा रही है। अहा ! संतों की निरभिमानता और भद्रता तो देखो ! स्वयं ज्ञान के सागर हैं, तथापि गणधरों एवं पूर्वाचार्यों के निकट तो विनयपूर्वक बालक समान बनकर कहते हैं कि प्रभो ! आपके समक्ष तो हम बालक समान-मंद बुद्धि हैं। (-प्रवचन से)

प्रभुता

हे जीव! सिद्ध भगवन्तों को अखण्ड प्रतापवान स्वतंत्रता से शोभायमान जैसी प्रभुता प्रगट हुई है, वैसी ही प्रभुता तेरे आत्मा में है। तेरे आत्मा की स्वतंत्र प्रभुता के प्रताप को कोई खण्डित नहीं कर सकता। अनादिकाल से तुने ही अपनी प्रभुता को भूलकर उसका खण्डन किया है; अब अपने आत्मस्वभाव की प्रभुता को प्रतीति में लेकर उसका अवलम्बन कर, उससे तेरी पामरता दूर हो जायेगी और अखण्ड प्रतापवाली प्रभुता से तेरा आत्मा स्वतंत्ररूप से शोभायमान हो उठेगा।

सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा में प्रभुता का अंश प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन रहित समस्त जीव (शक्तिरूप से प्रभु होने पर भी) पामर हैं। जो जीव सम्यग्दर्शन द्वारा आत्मा की प्रभुता को जानता है, वह जीव अल्पकाल में 'प्रभु' हो जाता है; स्वतंत्रता से शोभित उसकी प्रभुता के अखण्ड प्रताप को कोई तोड़ नहीं सकता। आत्मा की प्रभुता की प्रतीति का यह फल है। *—सातवीं शक्ति के प्रवचन से*

शुभ समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)—पूज्य कानजी स्वामी सोनगढ़ में ता० १५-१-५९ को प्रस्थान करके ता० १६-१७ जनवरी को पावागढ़ तीर्थ क्षेत्र वंदना करते हुये मुंबई ता० २५-१-५९ को पधारेंगे। वहाँ पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव माघ सुदी १ ता० ८-२-५९ से माघ सुदी ६ ता० १३-२-५९ तक होगा। मुंबई नगरी में दिगम्बर जैन समाज में आगे कभी पंच कल्याण महोत्सव हुआ नहीं है, प्रथम बार ही हो रहा है।

महान उत्सव पूर्ण होने बाद ता० १५-२-५९ मुंबई से यात्री संघ सहित श्री बाहुबली आदि दक्षिण तीर्थ यात्रार्थ प्रस्थान होगा।

सूचना

मोक्षशास्त्र बड़ी टीका मँगाने वाले सज्जन मदनगंज-किशनगढ़ से मंगवावें। कारण सोनगढ़ में करीब २ माह तक पुस्तक-विक्रय विभाग प्रायः बन्द-सा रहेगा; अतः इस बीच निम्न पते से मंगावें।

पता—कमल प्रिन्टर्स, पो० मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

तत्वज्ञान के लिये सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ

१- सम्यग्दर्शन-(दूसरी आवृत्ति)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जो अपना असली स्वरूप-स्वाधीनसुख और उसका सच्चा उपाय समझने में स्वच्छ दर्पण समान है, इस बात को अच्छे ढंग से शास्त्राधार सहित बताया है, जैनधर्म में ही सच्चा विश्व दर्शन क्यों है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके स्वतंत्र वस्तुस्वभाव समझने की अनेक बात स्पष्ट करने में आई हैं। आद्योपांत पढ़े बिना उसका महत्व ख्याल में नहीं आता। पृष्ठ सं० २६६, मूल्य १.६३।

२- लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जो गाइड है—जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं, सभी में प्रचार होने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन देंगे। पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य ०.१९ नये पैसे।

३- श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह-

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्रायः सब तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत आवश्यक जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना इत्यादि वर्णन होने से अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १.४५। १० पुस्तक एक साथ लेने पर कमीशन देंगे।

४- जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३

जिसमें सर्वोत्तम शैली से शास्त्राधार सहित तत्त्वार्थों के विषय में ऐसा समाधान दिया है कि शास्त्रों का अर्थ नहीं समझनेवालों का भी सच्चा निःशंक समाधान हो सकता है और सभी को उपयोग में आने योग्य है। पृ० सं० तीनों भाग की ४००, मूल्य प्रत्येक का ०.५६।

५- ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव-

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है, जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तुस्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज़ है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त।

३- अनेकान्त, निमित्त उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४ - द्रव्य पर्याय संबंधी अनेकान्त।

५- अनन्त पुरुषार्थ।

६. वस्तुविज्ञान अंक जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।

७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है उस पर खास प्रवचनों का सार—जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है बढ़िया जिल्द सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४०० मूल्य २-५० नये पैसे।५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० मूल्य लागत मात्र, ५) पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवाले को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

छप रहा है!! शीघ्र ही छप रहा है!!!

सस्ते में मिलेगा

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र

जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	छप रहा है।	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५ ॥=)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्म पाठ संग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८	
तृतीय भाग	॥-)	-१०-११-१२-१३	३ ।।।)
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।